॥ श्री गोपीजनवल्लभायनमः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला—५

श्रीभागवतप्रतिपदमणिवरभावांशुभूषितामूर्ति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण

विरचिता

श्रीमद्भागवतदशमस्कंध सुबोधिनी

(जन्मप्रकरण, प्रथमाध्याय)

—हिन्दीभाषानुवाद—

अनुवादक—

पं. कृष्णकिशोर द्विवेदी "आयुर्वेदाचार्य"

प्रकाशक—

वैष्णव मित्र मंडल इन्दौर.

प्रबोधिनी एकादशी कार्तिक शुक्ल ११ संवत् २००२

वल्लभाब्द ४६८ — १६ नवम्बर सन् १९४५

श्री सुबोधिनी ग्रंथमाला हिंदी अनुवाद पर प्राप्त

—:सम्मतियाँ:—

(३)

॥ श्री हरिः ॥

श्री १०८ श्रीमद्गोस्वामी श्रीव्रजनाथलालजी महाराज

ता. २९।७।४५

विलापार्ले, बम्बई

श्रीयुत् आयुर्वेदाचार्य पं. कृष्णकिशोर द्विवेदी
प्रधानमंत्री वैष्णव मित्रमंडल इन्दौर.

शुभाशिषः,

आपका कुशलपत्र एवं साम्प्रदायिक नवप्रकाशन प्राप्त कर बहुत हर्ष हुवा। आज हमारे सम्प्रदाय को राष्ट्रभाषा एवं आंग्ल भाषा के साम्प्रदायिक प्रकाशनों की तीव्र आवश्यकता है; और साथ-साथ में उक्त साहित्य के प्रचार की भी उतनी ही जरूरत है। आपका सांम्प्रदायिक प्रेम व श्रद्धाभाव सराहनीय है। प्रभु से विनय है कि दिनोंदिन आपका और आपके मित्र-मंडल का उन्नति के पथ पर विकास होता रहो।

भवदीय

गो. व्रजनाथ शर्मा

(४)

श्री १०८ श्री मद्गोस्वामी श्रीद्वारिकेशलालजी महाराज
(पोरबंदर)

मिती श्रावण कृष्ण १० शुक्रवार संवत् २००२

श्री गोवर्धननाथजी मन्दिर

अकोला (बराड़)

गो. श्री द्वारकेशलालजी के, श्रीयुत् कृष्णकिशोरजी को

शुभाशिषः,

अपरंच, श्री सुबोधिनीजी मासिक-पत्र प्राप्त हुवा। बांचकर चित्त प्रसन्न हुआ, श्री आचार्य चरणों की कृपा से आगे वैष्णवों के लिये परमोपयोगी होने से तुम्हें श्री आचार्यचरण कृपा करके सहाय करें, ऐसी प्रार्थना करता हूं। पत्रोत्तर शीघ्र लिखोगे। किमधिकम्।

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कंधपूर्वार्धजन्मप्रकरणीय

श्री सुबोधिनी हिंदी भाषानुवाद

मू०—अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतोन्यन्न निमित्तमस्ति ।
एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्य शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्नि के तथा लकड़ी के संयोग एवं वियोग मे अदृष्ट के बिना अन्य कोई कारण नहीं है उसी प्रकार जीव एवं शरीर के भी संयोग और वियोग का कारण दुर्विभाव्य (नही ज्ञात हो सके ऐसा) है ॥ ५१ ॥

श्रीसुबोधिनी

मेरे पुत्रों की मृत्यु केवल (कंस को) समर्पण कर देने मात्र से ही हो जायगी ? ऐसा नही है; यदि उनका वैसा ही अदृष्ट होगा तो ही वे मर सकेंगें । इसमें कारण कहते हैं कि—जिस प्रकार अग्निद्वारा जंगल के जलाये जाने पर कई निकट स्थित पदार्थ नही भी जलते हैं और दूर स्थित ज़ल जाते हैं । अतः यहां पर भी अदृष्ट निमित्त है । पुत्रादिकों के देह वियोग एवं संयोग का निमित्त भी अदृष्ट ही है । कारण कि यह अर्थ भरतादि मे देखा जाता है । इन (भरत) की हरि क्षेत्र मे हरिण को देखते हुवे मृत्यु हुई, एवं कालंजर मे हरिण रुप में इन्होने जन्म ग्रहण किया है । क्या यहां हरिण शरीर ग्रहण करने मे और वहां उत्पन्न होने मे कोई भी दृष्ट निमित्त संभावित है ? जीव सर्वत्र उत्पन्न होता है इसमे दृष्ट कारण बाधित होने से शरीर संयोग एवं वियोग का कारण दुर्विभाव्य (नही ज्ञात हो सके ऐसा) है । अदृष्ट के वश होकर बाद मे कुछ भी हो सकता है । अतः इस समय इस (देवकी) को छुड़ाना ही आवश्यक है ॥ ५१ ॥

अब आगे निर्धारित कहा जाता है—

श्री शुकउवाचः—

एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्
पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम् ॥ ५२ ॥

अर्थ—श्री शुकदेव जी कहते है कि—इस प्रकार विचार करके वसुदेव जी ने आत्मा मे जहां तक जाना जा सका, अर्थात् जैसा उनकी समझ मे आया, वैसा उन्होंने उस पापी (कंस) का अत्यन्त मान सहित पूजन किया ॥ ५२ ॥

श्री सुबोधिनी

इसका रक्षण करना यह स्वकर्तव्य है ऐसा विचार किया। यदि कंस इस बात को मंजूर कर ले तोही यह कार्य सिद्ध हो सकता है । इस विषय की सिद्धि कठिन है । उसके दूषणों (देवकी के मारण रुपी कार्य के दूषण) को कहते हुवे वसुदेव जी ने (देवकी के रक्षण मे) अधिक प्रयत्न किया है और उस प्रसिद्ध दिग्वजयी, इस प्रकार के कर्म करने वाले, पापी कंस का पूजन किया है। पूजा के समय प्रथम अपने अन्दर स्थित भाव पूज्य में आरोपित किया जाता है; बाद में कार्य होता है। यह उपाय अलौकिक है । यहां शंका हो कि—ऐसा क्यों किया। अतः कहते है कि--जहां तक अपनी आत्मा का, निदर्शन हो वहां तक उपाय करते रहना चाहिये। आत्मा के निदर्शन से जितना ज्ञात होता है उतना ही दृष्ट अदृष्ट भेद द्वारा उपाय करना उपयुक्त है। प्रथम अदृष्ट उपाय किया गया है इसीलिये "पूजा,, कही गई है। पूजा द्वारा कार्य कि सिद्धि निश्चित है ऐसा मानकर वहां पर (कंस मे) निज हृदय स्थित देवता का समारोपण किया गया है; इसीलिये मूल श्लोक मे " बहुमान पुरस्सरम् ,, (अत्यन्त संमानादि सहित) ऐसा कहा गया है। यह पूजा—स्तुति, नमस्कार नम्रता रूपी है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने मे कारण यह है कि वसुदेव जी "शौरि,, हैं। "शौरि,, अर्थात् शूरराजा के पुत्र ॥ ५२ ॥ (इसीलिये वसुदेव जी ने ऐसा कार्य किया था।)

इस प्रकार पूजन करके विज्ञापना करने लगे—

मू० — प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम् ।
मनसादूयमानेन प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—मुख कमल को प्रसरित करके मन में खिन्न होते हुवे क्रूर एवं निर्लज्ज कंस को वसुदेवजी ने हँसते-हँसते यह कहा ॥५३॥

श्री सुबोधिनी

अपने मुख कमल को विकसित करके स्वयं को अप्रतारकत्व (सज्जनता) एवं हितेच्छु रूप से प्रकट करके; और अधिष्ठान (कंस) के दूषित होने के कारण उसमें स्थापित किये हुवे देवता वहां रहेंगे अथवा नहीं इस प्रकार की शंका होने से दुःखी मन वाले होते हुवे भी इसको छिपाने के हेतु हंसते हुवे— इतना क्यों करना पड़ रहा है ? ऐसा कहते हुवे यह (आगे श्लोक में कहा जाने वाला विषय) कहा।

अधिष्ठान में दो दूषण है जिससे देवता का वहां निवास नहीं हो सकता है। क्रूरता (२).निर्लज्जता, ये दोनों क्रोध एवं काम दोनों के उत्पादक कारण हैं। उपर्युक्त

श्लोक में कहे हुवे "नृशंस" एवं "निरपत्रम्" पद यह सूचित करते हैं। "काम" के सेवक ही निर्लज्ज होते हैं। कहा है कि कामी पुरुष "पृष्ठस्वीकृत ह्रीभयाः" अर्थात् लज्जा एवं भय को पीठ पर स्वीकार करते हैं। नृशंस अर्थात् क्रूरात्मा, तामस क्रोध युक्त होता है ॥ ५३ ॥ आत्मीयता का ग्रहण करते हुए उस कंस का हित कहते हैं—

श्री वसुदेव उवाचः—

मू०—न चास्यास्ते भयं सौम्य यद्वि त्वाहाशरीरवाक्।
पुत्रान् समर्पयिष्येऽस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥५४॥

अर्थ--श्री वसुदेवजी कहते हैं कि—हे सौम्य! तुम्हें इस (देवकी) से भय नहीं है। आकाश वाणी ने जो कहा है वह भय तुम्हें जिससे उत्पन्न हुआ है उन पुत्रों को मैं तुम्हें समर्पित करूंगा ॥५४॥

श्री सुबोधिनी

तुम्हें इससे भय नहीं है और न मुझसे ही तुम्हें भय होगा। कारण कि आकाशवाणी ही इसमें प्रमाण है। अतः निरपराधी का वध नहीं करना चाहिये। मूल श्लोक में 'सौम्य' पद इसलिये कहा गया है कि—हे कंस, तू सौम्य है! अतः मैं कहता हूँ वहकर। आप कहते हैं इसमें प्रमाण क्या है? इस प्रकार की शंकामे भी प्रमाण भूत आकाशवाणी का ही कथन है। इस प्रकार आकाशवाणी का प्रमाण दोनों स्थल पर है। अतः इसके पुत्रों को तुम्हें समर्पण करूँगा। जिस पुत्र से आकाशवाणी द्वारा तुम्हें भय उत्पन्न हुवा है। पुत्र तुम्हें दे देने पर वह तुम्हारा होने के कारण तुम्हें नहीं मारेगा। कापट्य का अभाव प्रदर्शित करने के हेतु मूलश्लोक में पुत्रों के लिये "पुत्रान्" ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग प्रयुक्त है ॥५४॥

इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करने पर कंस ने यह स्वीकार किया, यह कहा जाता है—

श्री शुक उवाचः—

मू०—सुहृद्वधान्निववृते कंसस्तद्वाक्यसारवित्
वसुदेवोऽपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ॥५५॥

अर्थ--श्री शुकदेवजी कहते हैं--उन वाक्यों का सार जाननेवाला कंस बहन के वध से निवृत्त हुआ और प्रसन्न हुवे वसुदेवजी ने भी उसकी प्रशंसा करके घर में प्रवेश किया ॥५५॥

श्री सुबोधिनी

इस प्रकार विवेक उत्पन्न होने से कंस का चित्त विचारमग्न हुआ यह देवकी बहन

है अतः इसे क्यों मारना चाहिये ? (इस प्रकार का ज्ञान होने के कारण) कि—कंस बहन के वध से निवृत्त हुआ है। वसुदेवजी टाल रहे हैं ऐसी भी शंका उसके हृदय में नहीं हुई कारण कि वह सार को जाननेवाला था तथा यह भी जानता था कि वसुदेव कभी असत्य नहीं बोलते हैं। अतः वसुदेवजी के यहां भगवदवतार भी है। वह कंस निवृत्त हुआ अर्थात् रथ को चलाकर के उन (वसुदेव, देवकी) को घर ले गया; ऐसा जाना जाता है। उसके मन की कलुषता चली गई है इसीलिये वसुदेवजी ने भी प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करके पुनः स्तुति करके मार्ग के समाप्त हो जाने के कारण घर में प्रवेश किया। इस तरह किसी भी प्रकार से अनर्थ का समाधान किया ॥५५॥

यह कार्य भगवान् ने ही किया है यह कहने के लिये तथा आगे का कार्य अच्छी प्रकार हुवा, यह छः श्लोकों द्वारा कहा जाता है।

मू०—अथकाल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता ।
पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम् ॥५६॥

अर्थ—इसके बाद में काल (ऋतुकाल) प्राप्त होने पर सर्व देवमयी देवकी ने प्रतिवर्ष आठपुत्र एवं एक कन्या को जन्म दिया ॥५६॥

श्री सुबोधिनी

इसके बादमें जल्दी ही ऋतु समय प्राप्त होने पर आठ वर्ष के बीचमे ही संपूर्ण पुत्रों को जन्म दिया था। कन्या में आसक्ति होने के कारण एक कन्या भी प्रकट हुई थी। प्रतिवर्ष एक एक पुत्र का जन्म हुआ था और वे संपूर्ण पूर्णगर्भ थे। इस प्रकार निरुपद्रव प्रसव मे कारण यह है कि देवकी सर्वदेवतामयी थी। संपूर्ण देवता ही जहां रक्षण के लिये थे। नवमी कन्या का जन्म हुआ था। प्रसव में एक भी वर्ष व्यवहित नहीं हुआ यही सूचित करने के हेतु मूल श्लोक में (प्रसुषुवे) "सुषुवे" के साथ 'प्र' उपसर्ग लगाया गया है ॥५६॥

जैसे ही देवकी ने पुत्रों को उत्पन्न किये वैसे ही वसुदेव ने भी अपना कथन पूर्ण किया—

मू०—कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः ।
अर्पयामास कृच्छ्रेण सोऽनृतादितिविह्वलः ॥५७॥

अर्थ—असत्य से डरनेवाले उन वसुदेवजी ने प्रथम उत्पन्न हुवे कीर्तिमान् नामक पुत्र को कष्ट से कंस को अर्पण किया ॥५७॥

श्री सुबोधिनी

जेष्ठपुत्र सबके लिये अदेय है (अर्थात् अपने बड़े पुत्र को कोई किसी को भी देता

नहीं है) और यह तो महान् है; किन्तु फिरभी वसुदेवजी ने अपनी धर्मनिष्ठता प्रकट करने के हेतु अपने बड़े पुत्र को भी कंस को दिया। इसीलिये "कीर्तिमन्तं प्रथमजम्" यह श्लोक कहा गया है।

"कंस" यह नाम मूलश्लोक में कहकर उसकी क्रूरता बताई गई है तथा सत्य वाक्यत्व मे हेतु वसुदेव के लिये कहा गया "आनकदुन्दुभिः" पद है। वसुदेव ने स्वयं ही उस पुत्र को ग्रहण कर कंस को दिया था। कष्ट द्वारा अर्थात् शोक को रोककर के कंस को पुत्र दिया था। यहां शंका होती है कि-झूठ बोलना यह अधर्म कहा जाता है और पुत्र देना यह भी अधर्म कहा जाता है और यहां प्राण-संकट उपस्थित होने पर असत्य कथन अधर्म नहीं कहा जा सकता है अतः वसुदेव ने पुत्र को घर पर ही क्यों न रख लिया? इस विषय के स्पष्टीकरण के हेतु मूल श्लोक के "सोनृतादतिविह्वलः" (वे वसुदेवजी असत्य से अति व्याकुल होनेवाले थे) ऐसा कहा गया है और यह भी कारण है कि वसुदेव "आनकदुन्दुभी" हैं। इसके लिये पुत्र की अपेक्षा सत्य का रक्षण ही भगवत्प्राप्ति करानेवाला है। पुत्र तो देह संबंधि होते हैं और सत्य, भगवत्सम्बन्धित है। असत्य होने से भगवत्सम्बन्ध नहीं होगा यह वसुदेवजी जानते थे अतः वे अत्यत विह्वल थे ॥५७॥

पुत्र समर्पण दृष्ट है एवं सत्य अदृष्ट है अतः दृष्ट एवं अदृष्ट में बाध्य बाधक भाव उत्पन्न होता है अतः कहते हैं—

मू०—किं दुस्सहंतुसाधूनां ? विदुषां किमपेक्षितम् ?
किमकार्यंकदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ? ॥५८॥

अर्थ—साधु पुरुषों को क्या दुःसह होता है? विद्वानों को क्या अपेक्षित है? कुत्सित हृदयवालों के लिये क्या अकार्य है? और धीरज रखनेवाले पुरुष क्या नहीं छोड़ सकते हैं? ॥५८॥

श्री सुबोधिनी

"पुत्र के नहीं देने में लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र? प्रथम हेतु (लौकिकमोह) को दूषण देते हैं कि—जो शत्रु एवं मित्र उभयपक्ष पर उदासीन है उस साधु पुरुष के लिये कौनसा कार्य दुस्सह है? मोहवश ही पुत्रादि का वियोग दुस्सह हो सकता है किंतु यदि मोह नहीं हो तो जैसे पुत्र है वैसे ही कंस भी। उसी प्रकार कंस को मारनेवाले पुत्र की भी रक्षा नहीं करना चाहिये अतः पुत्र-दान ही उपयुक्त है।

"पुत्रेण जयते लोकान् पुत्रेण वसुतामेति पुन्नामो नरकात् त्रायत" तथा "त्वंयज्ञ"

पुत्रद्वारा लोकों को जीता जा सकता है, पुत्र द्वारा ही वसुत्व प्राप्त होता है, पुत्र पुम्-नामक नरक से बचाता है", 'तू यज्ञ है' इत्यादि वाक्यों द्वारा पुत्र के उपकार की अपेक्षा हैं। इस शंका के निवारणार्थ मूल श्लोक में 'विदुषां किमपेक्षितम्' ज्ञानयुक्त विद्वानों के लिये बहिःस्थित कौनसी वस्तु अपेक्षित है? (अर्थात् कुछ नहीं) इस प्रकार का कथन है।

ज्ञान युक्त विद्वानों को न तो साधन की अपेक्षा है और न फल की ही अपेक्षा है ! किन्तु इस प्रकार वध करने के लिये एक अज्ञ बालक का समर्पण करना उचित है क्या ?

इस वाक्य के भी समाधानार्थ मूल मे "किमकार्यं कदर्याणाम्" "कुत्सित हृदयवाले पुरुष के लिये क्या अकर्तव्य है" ऐसा कहा गया है; अर्थात् यदि पुत्र समर्पण नहीं किया जायगा तो कंस वसुदेव को अनृत वादी समझकर समय के बन्धन से मुक्त हो जाने के कारण संपूर्ण ही पुत्रों को तथा संपूर्ण पत्निओं को एवं मुझे भी मार डालेगा अतः "त्यजेदेकं कुलस्यार्थम्" संपूर्ण कुल के लिये एक को छोड़ देना चाहिये उस न्याय के अनुसार पुत्रदान ही उपयुक्त है। कंस ऐसा नही करेगा ऐसी भी शंका नही करना चाहिये कारण कि कलुषित हृदय वाले क्या नही कर सकते है ? कदर्य=कुत्सित पुरुष सबका उल्लंघन करने वाले होने के कारण लुब्ध होते है। कुत्सित हृदय वाले पुरुषों मे जिसकी स्थिति हो अथवा जो उससे उत्पन्न हुवा हो वह "कदर्य" है। (कंस उग्रसेन के वीर्य से उत्पन्न नही था अपितु दैत्य के वीर्य से उत्पन्न था ऐसा हरिवंश मे प्रसिद्ध है; इसीलिये वह कदर्य=दुष्ट हृदय वाला था ?)

"निरपराध एवं अज्ञ बालक को मरवा देने से भी यहां से भाग जाना ही उचित था" ऐसी शंका के निराकरणार्थ मूलश्लोकमे "दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम्" "धैर्य धारी पुरुषों के लिये कौनसी वस्तु दुस्त्यज है" ऐसा कहा गया है। जिन्होंने वासुदेव आत्मा को धारण की है ऐसे पुरुषों के लिये संपूर्ण चला जाय तो जाय किन्तु भगवान् वासुदेव रहना चाहिये; ऐसी बुद्धि जिनकी है उन्हें भगवद्बाधक संपूर्ण वस्तुओं का त्याग करना चाहिये। पुत्रो को नही समर्पण करना यह कार्य सर्व नाशकत्व होने से भगवद्बाधक है; भगवदीयों को त्याज्य वस्तुओं पर किसी भी प्रकार की गुणदोष गणना नही होती है। अतः पहले प्रतिज्ञा किया हुवा पुत्र समर्पण ही उपयुक्त है यह संपूर्ण भगवान् ने ही किया अतः कुछ भी अनिष्ट नही हुवा, यह कहा जाता है—

मू०—दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितम् ।
कंसस्तुष्टमना राजन प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥ ५९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! वसुदेव जी की इस प्रकार समता और सत्य मे स्थिति देखकर संतुष्ट चित्त होकर हंसते हुवे कंस यह कहने लगा ॥ ५९ ॥

श्रीसुबोधिनी

वसुदेव की पुत्र एवं स्वतः में ऐसी तुल्यता देखकर अन्योन्य परस्पर घातक है ऐसा जानकर उदासीनता से समता मे स्थिती तथा सत्य मे व्यवस्थिति देखकर कंस प्रसन्न हुवा।

"राजन्" यह संबोधन इस हेतु के लिये गया है कि—राजधर्म ऐसा होता है" यह सूचित हो सके। "प्रहसन्" अर्थात् कंस मुग्ध होकर ऐसा कहने लगा ॥ ५९ ॥

मू०—प्रतियातु कुमारोऽयं न ह्यस्मादस्तिमे भयम् ।
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥ ६० ॥

अर्थ—यह कुमार वापिस जाय ! इससे मुझे भय नही है । तुम्हारे अष्टम गर्भ से ही मेरी मृत्यु विहित है ॥ ५० ॥

श्री सुबोधिनी

इसके कथन पर से यह स्पष्ट है कि पांच वर्ष का कुमार था तथा--छठा बालक उदर में स्थित था । 'प्रतियातु' (वापिस हो) इस क्रियापद द्वारा यह स्पस्ष्ट है कि बालक पांच वर्ष का है अन्यथा 'नयतु' (ले जाओ) ऐसा प्रयोग किया जाता । पीछे कहा गया है कि—मैं इस देवकी के पुत्रों को दूँगा । " वहां पुत्र बहुत से कहे गये इसीलिये वसुदेव बहुत से पुत्र होने के बाद कंस के पास लाये हैं ।

" प्रतियातु " " अर्थात् पीछे फ़िर कर घर पर जाओ । यह तुम्हारा कुमार है नहीं कि मुझे मारने वाला है । इसको नहीं मारने का कारण यही है कि इससे मुझे भय नहीं है फिर भी समय बंधन चला गया है ऐसा मत सोचना कारण कि तुम्हारे अष्टम गर्भ से मेरी मृत्यु विहित है उसे लाकर देना ऐसा अभिप्राय है । इसीलिये ही नारदादिकों को कंस का यह कथन संमत नहीं था । भगवद्भक्तों की अन्य निष्ठा भी उचित नहीं है । नारदादि ने विपरीत समझा यह भी उचित ही है । "किल" (निश्चय ही) यह शब्द आकाश वाणी का प्रति संधान करता है ॥ ६० ॥

उसके प्रिय के लिये ही वसुदेव पुत्र को वापिस ले गये थे । यदि प्रकारान्तर से भी वह प्रसन्न हुआ होता तो भी पुत्र त्याग उपयुक्त नहीं था । उस कंस के वाक्य को स्वीकृत करके पुनः पुत्र को ले आये--

मू०--तथेति सुतमादाययया वानकदुन्दुभिः ।
नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतो विजितात्मनः ॥६१॥॥

अर्थ--" अच्छा " ऐसा कहकर वसुदेव पुत्र को लेकर चले गये, अंतः करण को बश में नहीं रखने वाले तथा असत्य बोलने वाले कंस के उस वाक्य का उन्होंने अभिनन्दन नहीं किया ॥ ६१ ॥

श्री सुबोधिनी

उस पुत्र को वसुदेव स्वयं ही लेकर गये । कंस के वाक्य पर अविश्वास का कारण यह है कि वसुदेवजी " आनकदुन्दुभि " हैं (वसुदेवजी में देवी शक्ति के विद्यमान होने के कारण उन्हें भविष्य पहले से ही ज्ञात हो गया था अतः उन्होंने कंस के उपर्युक्त वाक्यों पर अविश्वास किया एवं उसकी प्रशंसा नहीं की ।)

अत्यन्त क्लेश होने पर ही भगवत्प्राकट्य होता है, स्वास्थ्य में नहीं होता है। "आनक" एवं दुन्दुभियों का उद्घोष वसुदेव के जन्म समय में हुआ था वह भगवदागमन के ही लिये हुआ था। ये दोनों विशय परस्पर विरुद्ध होते है; दैव द्वारा किये हुए को सत्य मानकर तथा कंस कृत कार्य (पुत्र को नही मारना) को झूठा समझ कर ही वसुदेव प्रसन्न नही हुए थे। कंस का कथन कि "मैं इसको नही मारूगां" इस पर वसुदेव को अविश्वास था इसमे भी कारण दो थे; १ कंस असत् है २ अविजितात्मा (आत्मा को जिती नही है) है। असत् हमेशा एक तरह का नही होता है—अस्थिर वाणी वाला, घातक स्वतः की मुक्ति की दृढ़ता से रहित होता है। यदि (इस कंस को) किसी ने कह दिया कि पहला ही अष्टम गर्भ है तो अवश्य ही यह मार डालेगा; अतः झूठों का विश्वास नही करना चाहिये। उसको अन्य वाक्य की भी अपेक्षा नही रहती है। जब राक्षसों द्वारा भक्ष के लिये पुरुष मांगे जावेंगे तभी यह इन पुत्रों को मार डालेगा। क्रोध को उत्पन्न करने वाले कई हेतु होने के कारण तथा अजितात्मा होने के कारण क्रोध उत्पन्न होने पर मारने मे विलम्ब नहीं करेगा॥ ६१ ॥

"महान् पुरुषों का अंतः करण ही प्रमाण है" इस कथन के अनुसार वैसा ही हुआ—

मू०— नन्दाद्या ये व्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः ॥ ६२ ॥

अर्थ—व्रज मे जो नंदादि गोप है वे तथा उनकी स्त्रियां एवं वसुदेवादि यादव, देवकी आदि स्त्रियां तथा और भी दूसरी स्त्रियां (ये संपूर्ण देवता तुल्य हैं) ॥ ६२ ॥

श्री सुबोधिनी

वसुदेव जी के विषय मे कंस द्वारा किया गया कार्य (पुत्र को नही मारना) देवताओं को हितकारक नहीं है अतः देवताओं का गुह्य कार्य करने वाले नारद ने—वसुदेव को, अंत में अनिष्ट करने वाली पीड़ा दिलाने के हेतु और दैत्य रूप कंस को उद्वेगयुक्त करने के लिये तथा भगवान् का आगमन शीघ्र ही हो अतः साधारण मनुष्यों को भी पीड़ा दिलाने के हेतु तीन वाक्य कंस से कहे—यमुना के उस पार व्रज मे जो नन्दादि गोप तथा उनकी यशोदा आदि स्त्रियां कुमारिकायें आदि हैं वे तथा इस पार यदुवंश मे उत्पन्न होने वाले वसुदेव आदि तथा उनकी देवक्यादि स्त्रियां है। (ये संपूर्ण देवता तुल्य हैं) ॥ ६२ ॥

इस प्रकार एक श्लोक द्वारा संपूर्ण का वर्णन करके उनका देवत्व कहते है—

सर्वे वै देवता प्राया उभयोरपि भारत ।
ज्ञातयो बन्धु सुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥ ६३ ॥

अर्थ—हे भारत ! यमुना के इन दोनों किनारों पर रहनेवाले ये सब, ज्ञातिजन, बन्धु, मित्र एवं अनुचर आदि संपूर्ण देवता तुल्य हैं ॥ ६३ ॥

श्रीसुबोधिनी

वे संपूर्ण स्त्रियां तथा पुरुष देव तुल्य है। उनमे मानुष स्वभाव होते हुवे भी वे देव तुल्य हैं। अतः देवों के साथ जो तुम्हे करना है वही इन सबके साथ भी करना चाहिये। "उभयोः" अर्थात् दोनों किनारे पर रहने वाले गोपगण तथा यदुवंश के संपूर्ण एवं पशु आदि भी देवांश युक्त है। "हे भारत" इस प्रकार का संबोधन करके शुकदेव जी परिक्षित् को समझाते है कि—"नारद ने कंस से ऐसा कहा था"।

"नारद के उस कथन को कंस नही माने" ऐसी शंका के निराकरणार्थ नारद को देव गुह्य कहा गया है (अर्थात् नारद देवों के गुह्य कार्य को करने वाले है अतः कंस उनके कथन की अवहेलना नही कर सकता है) तथा देव ही केवल उदासीन नही हैं अपितु कंस के सम्बन्धि जन, अक्रूरादि ज्ञातिजन, कंस के बन्धु मित्रादि तथा सेवकगण एवं पितृवर्ग ये संपूर्ण ही देवता तुल्य है ॥६३॥ ऐसा कंस को नारद कहते है—

मू०—एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः ।
भूमेर्भारायमाणानां दत्यानां च वधोद्यमम् ॥ ६४ ॥

अर्थ—भूमि पर भाररूप दैत्यों के वध के उद्यमरूप यह (वाक्य) एकान्त मे आकर भगवान् नारद ने कंस से कहा ॥ ६४ ॥

श्री सुबोधिनी

यदि कोई मनुष्य नारद को दुष्ट कहे तो इस शंका के निराकरणार्थ मूल श्लोक से नारद को भगवान् पद द्वारा भूषित किया है। "शशंस" अर्थात् नारद ने युक्ति पूर्वक उपाख्यान सहित कंस को एकान्त मे यह सब कहा है। वहां उपाख्यान में कहे गये वाक्य ही यहां (पूर्वोक्त श्लोक में) रखे गये हैं, अतः उनका क्रमशः कथन नहीं किया गया है उसमें दोष नहीं है। क्योंकि इतने ही में कार्य सिद्धी हो जायगी। यहां शंका हो कि—" भूमि के भार स्वरूप दैत्यों के वध का उद्यम नारद ने किया ?" स्वर्गलोक में देवो ने मंत्रणा की कि—"पृथ्वी पर भार रूप कंसादि देवता हुए है उनको मारना चाहिये।" उनको मारने के लिए ही देवों की आगमन बधोद्यम रूप से हुआ है। जिस प्रकार बधोद्यम होता है वैसे ही ये देवता तुल्य हैं, यह वाक्य है ॥६४॥

इस प्रकार तीन श्लोक कथनान्तर ऋषि के जाने पर कंस ने जो किया वह कहा जाता है--

मू०—ऋषेर्विनिर्गमेकंसो यदूनमत्वा सुरानिति
देवक्यागर्भसम्भूतिं विष्णुंच स्ववधं प्रति ॥६५॥

अर्थ--नारदऋषि के जाने के पश्चात् कंस ने यदुओं को देवता मानकर तथा देवकी के गर्भ द्वारा मेरे वध के लिये विष्णु का प्राकट्य है ऐसा मानकर (घर में ही सबको शृंखला से बांध दिया) ॥६५॥

श्री सुबोधिनी

जैसा नारदजी ने कहा है वैसाही अनुवाद में भी शुकदेवजी ने कहा है ऐसा जानना चाहिये। ऋषि ने ही इसका निवारण किया--नारद की कही हुई दोनों बातों को जानकर कंस ने चार कार्य किये।

प्रथम दो बातें कंस को यह ज्ञात हुई कि--(१) यादव देवता हैं। (२) देवकी के आठवें गर्भ में कंस के वध के उद्यमरूप विष्णु का प्राकट्य है ॥६५॥

मू०—देवकीं वसुदेवंच निगृह्य निगडैर्गृहे।
जातञ्जातमहन् पुत्रं तयोरजनशंकया ॥६६॥

अर्थ—कंस घर में ही देवकी एवं वसुदेव को शृंखला में बांधकर उन दोनों के उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक पुत्र को विष्णु मानकर मारने लगा ॥६६॥

श्री सुबोधिनी

प्रथम देवकी तथा वसुदेव और अन्य उनके साथ के संबंधिजनों का अपने घर में ही शृंखला से बांधकर उनके उत्पन्न होनेवाले प्रत्येक में (अष्टम संख्या की गणना में बुद्धि की अपेक्षा है उसमे अनियमितता की संभावना होने से) विष्णु के जन्म की शंका करके कंस ने छः पुत्रों को मार डाले। "जातञ्जातम्" (उत्पन्न होते ही) इस प्रकार के कथन द्वारा यह नहीं समझना चाहिये कि जन्मजात बालकों को मार दिया है। क्योंकि क्षत्रियों में तेरहवें दिन नाम-नामकरण संस्कार होता है और उन सब छः ही पुत्रों का नामकरण हो चुका था अतः पूर्वोक्त समझ से विरोध आ सकेगा अतः 'जातञ्जातम्' अर्थात् देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुवे पुत्रों का नामकरणादि संस्कारोपरान्त वध किया है ॥६६॥

यहां शंका हो कि इस प्रकार का दुष्कार्य कैसे किया? अतः कहते हैं—

मू०—मातरं पितरं भ्रातॄन् सर्वांश्च सुहृदः सखीन्।
घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि ॥६७॥

अर्थ—पृथ्वी पर प्रायशः प्राण का ही पोषक करनेवाले लुब्ध हुवे राजागण, माता, पिता, भाई, संपूर्ण मित्र एवं सखाओं का भी घात करते हैं ॥६७॥

श्री सुबोधिनी

यह तो दैत्य ही है। जो अन्य राजा लोग हैं वे केवल प्राणपोषक होते हुवे लुब्ध हैं; लोभ ही संपूर्ण गुणों का नाश करनेवाला है। उन (राजाओं) में गुण नहीं होते हैं यही सूचित करने के लिये 'लुब्धः' कहा गया है। 'प्रायशः' इसलिये कहा गया है कि सम्पूर्ण ही राजा लोभी

नहीं होते हैं उनमें अम्बरीष के समान् भी होते हैं। पृथ्वी पर ऐसी ही व्यवस्था है। इसीलिये युधिष्ठिरादि अपने पितामह को मार सके हैं। जहां अपने स्वयं की मृत्यु का सन्देह होता है वहां अत्यन्त माननीय भी मातादिक पांचों को राजालोग मारते हैं ॥६७॥

यहां शंका होती है कि—'मैं स्वयं ही देवता हूं; ऐसी हितकारक बात कंस के हृदय में क्यों नहीं उत्पन्न हुई।' तदर्थ कहते हैं—

मू०—आत्मानमिहसंजातं जानन् प्राग् विष्णुनाहतम्।
महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥ ६८ ॥

अर्थ—पहले विष्णु द्वारा मारा गया महासुर कालनेमि यहां मैं स्वयं ही उत्पन्न हुआ हूं ऐसा जानकर ही कंस यादवों के साथ विरोध करने लगा है ॥ ६८ ॥

श्री सुबोधिनी

पहले अमृत मंथन के समय देवसेना के पृष्ठ रक्षक भगवान् विष्णु के द्वारा महासुर कालनेमि मारा गया था वही यह कंस है। ऐसा आत्मा मे जाना "पुनः देवकी प्रेरणा से विष्णु मुझे मारेंगे और ये संपूर्ण यादव देव है" अतः कंस ने यादवों के साथ विरोध किया है ॥ ६८॥

और भी अत्यन्त अयुक्त कार्य कंस ने किया—

मू०—उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम्
स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥ ६९ ॥

अर्थ—यदु, भोज, एवं अन्धक के अधिपति पिता उग्रसेन को स्वयं ही बांधकर महाबलवान् कंस शूरसेन देश का भोग करने लगा ॥ ६९ ॥

श्री सुबोधिनी

नाम द्वारा ही उग्रेसन का महत्व प्रदर्शित है। अपने पिता को जो कि संपूर्ण सहायता से युक्त था, यदु, भोज, तथा अन्धकादि छः प्रकार के यादवों का अधिपति था उसकी आज्ञा मात्र से वे सर्व यादवादि विपरीत करेगें अतः (ऐसा सोचकर) उसको कंस ने विशेष करके बांध लिया। बांधने वाला वह स्वयं ही था। शूरसेन देश उसके उग्रसेन के भोग करने के लिये था अतः कंस उसका उपभोग करने लगा। इन सबमें मुख्य महाबल है ॥ ६९ ॥

इस प्रकार संपूर्ण भगवदवतारमे हेतुभूत देवांश युक्त भक्तों पर के महानुपद्रव का निरुपण किया है।

इति श्रीभागवत सुबोधिन्यां श्रीवल्लभदीक्षित
विरचितायां दशमस्कंध विवरणे प्रथमोध्यायः॥

मुद्रकः—सी. एम. शाह, मॉडर्न प्रिन्टरी खजूरी बाजार, इन्दौर.